भारतीय ज्ञान प्रणाली उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान प्रणाली
उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

मो. 9660111549

संस्करण

प्रथम 2026

ISBN **: 978-81-993854-1-2**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान प्रणाली-उद्गम और विकास

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

आवरण - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक

श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

5

भारतीय ज्ञान धरोहर के संदर्भ में महाभारत कालीन पारिवारिक स्थिति

राजीव कुमार शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान-धरोहर के संदर्भ में महाभारतकालीन पारिवारिक स्थिति का मूल आधार धर्म, कर्तव्य और संस्कार रहा है। उस युग में परिवार केवल रक्त-सम्बन्धों का समूह नहीं था, बल्कि वह एक आध्यात्मिक एवं नैतिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित था, जहाँ प्रत्येक सदस्य का जीवन धर्मबोध से अनुशासित होता था। परिवार की इस संरचना में माता और पिता को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था तथा उन्हें गुरुजनों में भी महागुरु के रूप में माना गया।

माता और पिता :- महाभारतकालीन दृष्टि से माता और पिता तीर्थ के समान पूज्य माने गए हैं। जैसे तीर्थ मनुष्य को पवित्र करता है, वैसे ही माता-पिता का सान्निध्य और आशीर्वाद संतान के जीवन को संस्कारित करता है। माता-पिता को प्रत्यक्ष भगवान की संज्ञा दी गई है, क्योंकि वे ही संतान के जीवनदाता, पालक और संस्कारदाता होते हैं। माता नौ महीने तक गर्भ में संतान को धारण कर असह्य कष्ट सहती है और जन्म के पश्चात् भी अपने सुख-दुःख की परवाह किए बिना संतान के पालन-पोषण में संलग्न रहती है। यह त्याग और तपस्या किसी भी साधना से कम नहीं मानी गई है। शास्त्रीय दृष्टि में यह स्वीकार किया गया है कि माता-पिता को संतान का लाभ पूर्वजन्मों की तपस्या, पूजा और सत्कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है।

महाभारतकालीन परिवार में यह धारणा दृढ़ थी कि जो पुत्र माता-पिता के आदेशों का पालन करता है, उनकी आज्ञा को धर्म समझकर स्वीकार करता है, वही यथार्थ अर्थों में सच्चा पुत्र कहलाता है। संतान का कर्तव्य केवल माता-पिता की सेवा तक सीमित नहीं था, बल्कि उनके मान-सम्मान, आशाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति भी उसका धर्म माना गया। यदि संतान धार्मिक, यशस्वी और विद्वान होती थी, तो माता-पिता को इससे अपार आनन्द की अनुभूति होती थी और यही उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती थी। जो संतान माता-पिता की आशाओं को पूर्ण

करती है, उसके विषय में यह विश्वास किया जाता था कि वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख का भागी बनती है। इसी कारण मन, वचन और कर्म—तीनों से माता-पिता की सेवा करना संतान का परम कर्तव्य माना गया।

पिता की भूमिका भी महाभारतकालीन पारिवारिक व्यवस्था में अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी। पिता तपस्या, देवपूजा, तितिक्षा और अनुशासित जीवन के द्वारा सत्पुत्र की कामना करता था। संतान के संस्कार, शिक्षा-दीक्षा और धार्मिक कृत्यों का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से पिता पर होता था। उपनयन, अध्ययन, आचार-व्यवहार और सामाजिक कर्तव्यों की शिक्षा पिता ही देता था, इसलिए उसे श्रेष्ठ और मार्गदर्शक माना गया। पिता का दायित्व केवल पालन-पोषण तक सीमित नहीं था, बल्कि वह संतान को धर्म, नीति और कर्तव्य के मार्ग पर चलाने वाला आदर्श पुरुष होता था।

यद्यपि माता और पिता की भूमिकाओं में बाह्य रूप से भेद दिखाई देता है, तथापि गहन अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि संतान के लिए दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण और पूज्य हैं। महाभारतकालीन दृष्टिकोण में न तो माता की महत्ता को कम आँका गया है और न ही पिता की। दोनों ही संतान के जीवन के लिए एक-दूसरे की तुलना में महागुरु हैं। माता करुणा, ममता और सहनशीलता की प्रतीक है, तो पिता अनुशासन, कर्तव्य और धर्मबोध का प्रतिनिधि है। इन दोनों के समन्वय से ही संतान का सर्वांगीण विकास संभव माना गया।

गुरुजनो की सेवा :— गुरुजनों की सेवा को महाभारतकालीन भारतीय ज्ञान-परम्परा में संतान के सर्वांगीण कल्याण का मूल साधन माना गया है। पिता को गार्हपत्य अग्नि, माता को दक्षिण अग्नि और आचार्य को आवाहनीय अग्नि के समान बताया गया है। जैसे यज्ञ में ये तीनों अग्नियाँ अनिवार्य होती हैं, वैसे ही जीवन-यज्ञ की पूर्णता के लिए इन तीनों की सेवा आवश्यक मानी गई है। अप्रमाद भाव से इनकी सेवा करने वाला मनुष्य इहलोक, परलोक और ब्रह्मलोक—तीनों का अधिकारी बनता है। इस दृष्टि से मनुष्य के सभी प्रकार के कल्याण गुरु-सेवा पर ही आश्रित माने गए हैं।

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार जो पुरुष मंगल की कामना करता है, उसे सदा पिता, माता और आचार्य को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करना चाहिए। पिता के सन्तुष्ट होने से प्रजापति तुष्ट होते हैं, माता की तुष्टि से सम्पूर्ण पृथ्वी सन्तुष्ट मानी जाती है और आचार्य की तृप्ति से ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। नारद का कृष्ण से कथन इस भाव को और पुष्ट करता है कि जो संतान माता, पिता और गुरुजनों की भक्ति करती है, वह जीवन की सभी उपलब्धियों की अधिकारी बनती है। गुरुजनों की यथोचित पूजा से आयु, यश और श्री की वृद्धि होती है।

आचार्य-पूजा के संदर्भ में शिक्षा-प्रबन्धों में विशेष बल दिया गया है। कच का कथन आचार्य की महत्ता को स्पष्ट करता है कि जो गुरु अज्ञान को दूर कर कानों में अमृत-तुल्य ज्ञान भरते हैं, वे माता और पिता के समान पूज्य हैं। जो विद्वान पुरुष वेद रूपी अमूल्य निधि के दाता आचार्य की पूजा नहीं करता, उसे अप्रतिष्ठा और अधोगति का भागी बताया गया है। इस प्रकार गुरुजन-सेवा को जीवन के मंगल, प्रतिष्ठा और मोक्ष का आधार स्वीकार किया गया है।

गुरुजनो की प्रीति अर्जन करना :- महाभारतकालीन भारतीय ज्ञान-परम्परा में गुरुजनों की प्रीति अर्जन को ही श्रेष्ठ धर्म माना गया है। गन्धमादन पर्वत पर महर्षि अष्टिसेन और युधिष्ठिर के संवाद से यह तथ्य स्पष्ट होता है। महर्षि ने कुशल-क्षेम पूछने के उपरान्त युधिष्ठिर से यह प्रश्न किया कि क्या वह माता-पिता की आज्ञा का भली-भाँति पालन करता है और क्या गुरुजनों तथा वृद्ध पण्डितों की यथायोग्य पूजा करता है। इससे यह संकेत मिलता है कि धर्म का वास्तविक मूल्यांकन बाह्य आचरण से नहीं, बल्कि माता-पिता और गुरुजनों के प्रति कर्तव्यपालन से होता है।

शास्त्रीय दृष्टि में माता, पिता, अग्नि, गुरु और आत्मा इन पाँचों की पूजा को जीवन की पूर्णता का साधन माना गया है। जो व्यक्ति इनका सम्मान और सेवा करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों में सुख का उपभोग करता है। माता-पिता जो संतान की भलाई के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं, उनकी सन्तुष्टि को ही पुत्र का प्रधान कर्तव्य स्वीकार किया गया है। इसी भाव को महापुरुषों ने पुत्र का श्रेष्ठ धर्म कहा है, क्योंकि इसी से जीवन में धर्म, यश और कल्याण की सिद्धि होती है।

गुरुजनो की सेवा से स्वर्ग की प्राप्ति :- भारतीय ज्ञान-परम्परा में गुरुजनों की सेवा को स्वर्गप्राप्ति का सुनिश्चित मार्ग माना गया है। जो व्यक्ति शुद्ध आचार का पालन करते हुए सत्य में आस्था रखता है और माता-पिता की श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, वह उनके ऋण से उऋण हो जाता है। पिता, माता, आचार्य और ज्येष्ठ भ्राता की सेवा करने वाला, उनकी कभी निन्दा न करने वाला मनुष्य अभिलषित स्वर्ग को प्राप्त करता है और गुरुसेवा के प्रभाव से उसे नरक के दर्शन नहीं करने पड़ते। शास्त्रीय दृष्टि में माता-पिता आदि की आज्ञा का पालन करते समय अपने हित-अहित का विचार करने का अवसर नहीं माना गया है; उनका आदेश जैसा भी हो, उसे बिना हिचक स्वीकार करना ही पुत्र का धर्म बताया गया है।

मातृ-पितृभक्ति :- मातृ-पितृभक्ति के आदर्श उदाहरण के रूप में धर्मव्याध का प्रसंग प्रसिद्ध है। माता-पिता की सेवा के कारण ही उसे अद्‌भुत ज्ञान की प्राप्ति हुई और वही सेवा उसे श्रेष्ठ योगी बनने में समर्थ बना सकी। इसी प्रकार देवव्रत भीष्म की पितृभक्ति सर्वविदित है। पिता की पूर्ण तुष्टि और आशीर्वाद के फलस्वरूप

ही उन्हें इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त हुआ और वे मृत्यु पर विजय पाने में समर्थ हुए।

गुरुजनो का भरणपोषण :- गुरुजनों का भरण-पोषण न करना घोर पाप माना गया है। जो संतान माता-पिता का पालन नहीं करती या बिना कारण उनका त्याग कर देती है, उसे शास्त्रों में पतित और महापापी कहा गया है। माता-पिता का मन दु:खी हो ऐसा आचरण सन्तान के लिए सर्वथा निन्दनीय बताया गया है। जो पुत्र उनका अपमान करता है, उसके लिए यह माना गया है कि मृत्यु के पश्चात् उसे नीच योनियों में जन्म लेकर अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ता है। इस प्रकार गुरुजन-सेवा को न केवल स्वर्गप्राप्ति का साधन, बल्कि जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान का आधार स्वीकार किया गया है।

गुरुजनों के प्रति श्रद्धा :- महाभारतकालीन भारतीय ज्ञान-परम्परा में गुरुजनों के प्रति श्रद्धा और सेवा को दैनिक जीवन के आचार में अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया गया था। प्रात:काल निद्रा से जागने पर सर्वप्रथम माता-पिता और गुरुजनों को चरणस्पर्श कर प्रणाम करने का विधान बताया गया है। यह परम्परा केवल औपचारिक सम्मान नहीं थी, बल्कि इसके माध्यम से संतान अपने जीवन के आरम्भिक क्षणों में ही कृतज्ञता, विनय और धर्मभाव को जाग्रत करती थी। माना जाता था कि दिन का शुभ और मंगल आरम्भ तभी होता है, जब गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त हो।

इसी प्रकार जब माता-पिता या अन्य गुरुजन घर में प्रवेश करते थे, तो उनके आगमन पर तुरंत खड़े होकर प्रणाम करना आवश्यक माना गया है। यह आचरण बड़ों के प्रति आदर, आज्ञाकारिता और संस्कारशीलता का प्रतीक था। समाज में यह विश्वास दृढ़ था कि जो व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ और अनुभवी जनों का सम्मान करता है, वही वास्तविक अर्थों में शिष्ट और धर्मपरायण कहलाता है।

माता-पिता की अनुमति :- महाभारतकालीन परिवार व्यवस्था में प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के लिए माता-पिता की अनुमति लेना भी अनिवार्य समझा जाता था। बिना उनकी आज्ञा के किया गया कार्य अनुचित माना जाता था, चाहे वह विद्या-अध्ययन या तपस्या जैसे उच्च उद्देश्य के लिए ही क्यों न हो। कौशिक नामक ब्राह्मण का प्रसंग इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करता है। वेदाध्ययन की आकांक्षा से उसने माता-पिता की अनुमति के बिना परदेश गमन किया, किंतु जब उसका साक्षात्कार पितृ-मातृभक्त धर्मव्याध से हुआ, तो उसे अपने आचरण की त्रुटि का बोध हुआ। धर्मव्याध के उपदेश से प्रेरित होकर वह घर लौटा और माता-पिता की सेवा में प्रवृत्त हुआ।

माता-पिता, गुरुजन एवं भाई-बहन के प्रति व्यवहार :- महाभारतकालीन भारतीय ज्ञान-परम्परा में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि माता-पिता और अन्य गुरुजनों की भूल निकालना संतान का कर्तव्य नहीं है। कहोड़ के पुत्र

अष्टावक्र का उपाख्यान इसी भाव को समझाने के लिए प्रस्तुत किया गया है। कहा गया है कि गर्भावस्था में ही अष्टावक्र ने अपने पिता की अध्यापना में दोष निकाल दिया था, जिसके परिणामस्वरूप उनका शरीर आठ अंगों से टेढ़ा हो गया। इस कथा का तात्पर्य शारीरिक विकृति से अधिक नैतिक शिक्षा देना है कि माता-पिता अथवा गुरुजनों की आलोचना करना संतान के लिए अनुचित है।

इसी प्रकार माता-पिता से किसी प्रकार का कार्य कराना भी पुत्र के लिए पाप का कारण बताया गया है। संतान का धर्म सेवा करना है, न कि उनसे सेवा लेना। विभिन्न उपाख्यानों में बार-बार यह शिक्षा दी गई है कि माता-पिता के प्रति श्रद्धा, विनय और समर्पण ही सन्तान के लिए कल्याणकारी है।

चिरकारिकोपाख्यान में माता-पिता के प्रति पुत्र के कर्तव्यों का अत्यन्त व्यापक वर्णन मिलता है। उसमें कहा गया है कि पिता समस्त देवताओं का समष्टि-स्वरूप है और माता देवताओं तथा समस्त प्राणियों की समष्टि-स्वरूपा है। जब माता-पिता सन्तुष्ट हो जाते हैं, तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तृप्त हो जाता है। पिता को ही धर्म, स्वर्ग और तपस्या के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है तथा पिता की तृप्ति को समस्त देवताओं की तृप्ति के समान माना गया है।

पितृत्रय की संकल्पना भी इसी भावना को पुष्ट करती है। जिसके द्वारा उत्पत्ति हुई हो, जो भय से रक्षा करता हो और जो अन्नदाता हो—इन तीनों को पिता-स्वरूप मानकर उनकी भक्ति करने का विधान बताया गया है। माता-पिता का स्नेह सभी सन्तानों के प्रति समान होता है, परन्तु जो संतान अधिक दुर्दशाग्रस्त या दयनीय अवस्था में होती है, उस पर उनका करुणा-भाव स्वाभाविक रूप से अधिक प्रकट होता है।

परिवार में भाई-बहन के सम्बन्धों को भी अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। बड़े भाई और बड़ी बहन की श्रद्धा करने का उपदेश दिया गया है। विशेष रूप से कहा गया है कि बड़ा भाई पिता के समान होता है, इसलिए उसका आदर करना और उसके मार्गदर्शन का अनुकरण करना ही परिवार-धर्म माना गया है। इस प्रकार महाभारतकालीन पारिवारिक आदर्शों में समस्त वरिष्ठ जनों के प्रति श्रद्धा और सेवा को जीवन का मूल मूल्य स्वीकार किया गया है।

ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ का व्यवहार - महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्म-युधिष्ठिर संवाद के अंतर्गत 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ वृत्ति' नामक अध्याय पारिवारिक अनुशासन और भ्रातृ-व्यवहार की उच्च आदर्श परम्परा को स्पष्ट करता है। इस अध्याय में भीष्म युधिष्ठिर को बड़े और छोटे भाइयों के पारस्परिक आचरण के विषय में गहन उपदेश देते हैं। भीष्म कहते हैं कि जो भाई ज्येष्ठ है, उसे अपने बड़े होने का बोध रखते हुए ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि छोटे भाई उसे गुरु के समान सम्मान देने

के लिए स्वाभाविक रूप से प्रेरित हों। केवल आयु या अधिकार से नहीं, बल्कि आचरण और दूरदर्शिता से ही ज्येष्ठता सार्थक होती है।

भीष्म यह भी स्पष्ट करते हैं कि गुरु या बड़ा भाई में दीर्घदर्शिता का होना अनिवार्य है, क्योंकि यदि स्वयं गुरु ही दूरदर्शी न हो तो शिष्य या छोटा भाई विवेकशील कैसे बनेगा। बड़ा भाई यदि ज्ञानवान और बुद्धिमान होते हुए भी प्रत्येक अवसर पर छोटे भाई की त्रुटियों को कठोरता से उजागर करता रहेगा, तो इससे छोटे का मन विद्रोही हो जाएगा। इसलिए छोटे भाइयों के दोष दिखाई देने पर उन्हें सबके सामने अपमानित करने के बजाय कुशलता, धैर्य और स्नेह से सुधारने का प्रयास करना चाहिए।

भीष्म यह चेतावनी भी देते हैं कि यदि छोटे भाई का सार्वजनिक रूप से तिरस्कार किया जाए, तो ईर्ष्यालु और अवसरवादी शत्रु उसे भड़काकर अपने पक्ष में कर सकते हैं, जिससे परिवार की एकता भंग हो सकती है। ज्येष्ठ व्यक्ति के सद्व्यवहार से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ती है, जबकि उसके असदाचार से वंश का गौरव नष्ट हो जाता है। जो बड़ा भाई निरन्तर छोटे भाई का अपमान करता है, वह 'ज्येष्ठ' शब्द की सार्थकता को खो देता है और उसे पैतृक सम्पत्ति में श्रेष्ठ भाग का अधिकारी भी नहीं माना गया है; अपितु वह दण्ड का पात्र बनता है।

साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि कोई छोटा भाई कुमार्गगामी हो जाए, तो उसे पैतृक धन से वंचित करना उचित है। छोटे भाइयों का कर्तव्य भी स्पष्ट किया गया है कि वे बड़े भाई को पिता के समान मानें, उसकी आज्ञा का पालन करें और उसे सम्मान दें। इस प्रकार अनुशासन पर्व का यह उपदेश पारिवारिक जीवन में संयम, स्नेह, न्याय और अनुशासन का संतुलित आदर्श प्रस्तुत करता है।

भाइयों के बीच बंधुत्व एवं सौहार्द :- महाभारतकालीन पारिवारिक मर्यादाओं में बड़े भाई को पिता-तुल्य माना गया है, इसलिए उसका अपमान करना अत्यन्त अनुचित और पापजन्य बताया गया है। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार जो व्यक्ति पितृसमान बड़े भाई का अपमान करता है, उसे अगले जन्म में क्रौंच योनि प्राप्त होती है। एक वर्ष तक उस योनि में रहने के पश्चात् वह चीरक पक्षी के रूप में जन्म लेता है और पाप के क्षय के बाद ही उसे पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। इस उपदेश के माध्यम से यह भाव स्पष्ट किया गया है कि बड़े भाई का अनादर केवल सामाजिक अपराध नहीं, बल्कि आध्यात्मिक पतन का भी कारण बनता है।

महाभारत में भाइयों के बीच बन्धुत्व और सौहार्द का आदर्श रूप पाण्डवों के जीवन में स्पष्ट दिखाई देता है। पाण्डवों में केवल श्रद्धा और स्नेह ही नहीं था, बल्कि वे परस्पर मित्र भाव से भी जुड़े हुए थे। युधिष्ठिर प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में अपने

भाइयों से परामर्श लेते थे और छोटे भाई भी निर्भय होकर उन्हें सलाह देते थे। वनवास के समय, युद्ध की तैयारियों में तथा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को युधिष्ठिर से विचार-विमर्श करते हुए दिखाया गया है। चारों भाई सुहृद मित्रों की भाँति बिना आमंत्रण के भी अपनी-अपनी राय प्रस्तुत करते थे और युधिष्ठिर उनकी सलाह के सम्मान और मर्यादा को कभी कम नहीं होने देते थे।

भ्रातृ-सौहार्द का एक और आदर्श विदुर और धृतराष्ट्र के सम्बन्ध में दिखाई देता है। विदुर धृतराष्ट्र के प्रधान मन्त्री थे और वे बिना पूछे भी उनके हित की सलाह देने से नहीं चूकते थे। इसी कारण अविवेकी दुर्योधन उनसे द्वेष रखता था, परन्तु विदुर अपने कर्तव्य के प्रति सदा सजग रहे। धृतराष्ट्र भी यह भलीभाँति जानते थे कि विदुर ही उनके सच्चे हितैषी हैं, यद्यपि पुत्रस्नेह के कारण वे कई बार उनके विवेकपूर्ण परामर्श को स्वीकार नहीं कर पाते थे। इसके बावजूद दोनों के बीच भ्रातृ-प्रेम गहरा बना रहा।

महाभारतकालीन सामाजिक आदर्शों में बड़े भाई की पत्नी को भी माता के समान मानने की परम्परा थी। इसी भावना के अनुरूप पाण्डव अपने वनवास के समय माता कुन्ती को विदुर के संरक्षण में छोड़ गए थे और विदुर ने तेरह वर्षों तक उन्हें पूर्ण सम्मान और आदर के साथ अपने यहाँ रखा। इससे परिवारिक मर्यादा और नारी-सम्मान का आदर्श प्रकट होता है।

जमाई का आदर :- उस युग में जमाई के आदर-सत्कार की परम्परा भी प्रचलित थी। सास और ससुर द्वारा दामाद का सम्मान करना पारिवारिक सौहार्द और सामाजिक शिष्टाचार का अंग माना जाता था। इस प्रकार महाभारतकालीन परिवार-व्यवस्था में भ्रातृत्व, परस्पर सम्मान और स्नेह को जीवन के उच्चतम मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

पारिवारिक सद्व्यवहार - महाभारतकालीन भारतीय ज्ञान-परम्परा में पारिवारिक सद्व्यवहार को गार्हस्थ्य-धर्म का प्राण माना गया है। जो व्यक्ति परिवार के प्रत्येक सदस्य के साथ न्यायपूर्ण, सौम्य और मर्यादित व्यवहार करते हुए गृहस्थ जीवन का पालन करता है, वही वास्तव में मुनि कहा गया है। इसके विपरीत जो मनुष्य परिवारजनों के प्रति कठोर व्यवहार करता है, वह चाहे कितनी ही शुद्ध वृत्ति से जीविकोपार्जन क्यों न करता हो, फिर भी पाप का भागी होता है और उसकी समस्त तपस्याएँ निष्फल मानी जाती हैं।

साधु गृहस्थ का यह कर्तव्य बताया गया है कि वह अपने परिवार के पोष्य वर्ग, भृत्य, आश्रित और अतिथि के भरण-पोषण के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। अतिथि और पोष्य वर्ग के भोजन करने के पश्चात् जो गृहस्थ भोजन करता है, उसे 'अमृत-

भोजन' कहा गया है। सभी को भोजन कराना ही गृहस्थ का प्रधान यज्ञ माना गया है और यज्ञ के पश्चात् जो अन्न अवशिष्ट रहता है, वही 'हवि' अथवा 'अमृत' कहलाता है। जो गृहस्थ प्रतिदिन इस प्रकार का भोजन करता है, उसे 'अमृताशी' की संज्ञा दी गई है। भृत्यवर्ग के भोजन के बाद जो अन्न शेष रहता है, उसे 'विघस' कहा गया है और जो गृहस्थ ऐसा भोजन करता है, वह 'विघसाशी' कहलाता है। प्रत्येक गृहस्थ के लिए अमृत और विघस-भोजन दोनों का सेवन वांछनीय बताया गया है।

गृहस्थ को अपने जीवन में ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिथि, आश्रित, वृद्ध, शिशु, रोगी, विद्वान, मूर्ख, दरिद्र, ज्ञाति, सम्बन्धी और अन्य कुटुम्बियों के साथ रहना पड़ता है। इन सबके साथ उसे कलह से बचते हुए सद्व्यवहार करना चाहिए। माता, पिता, सगोत्रा स्त्रियाँ, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री और भृत्य—सभी के प्रति सौजन्य और करुणा रखना उसका कर्तव्य है। जो सज्जन व्यक्ति अपने परिवार के पालन-पोषण में निरन्तर सतर्क रहता है और कभी विरक्ति अनुभव नहीं करता, वही समाज में महापुरुष कहलाता है और उसे ही 'पुरुष-श्रेष्ठ' की संज्ञा दी गई है। ऐसा व्यक्ति तीनों लोकों को जीतने में समर्थ माना गया है।

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार आचार्य-पूजा से ब्रह्मलोक, मातृ-पितृभक्ति से प्रजापतिलोक, अतिथि-सत्कार से इन्द्रलोक और ऋत्विक-पूजा से देवलोक की प्राप्ति होती है। सगोत्रा स्त्रियों की सेवा से अप्सरा-लोक और ज्ञातियों की सेवा से वैश्वदेव-लोक का अधिकार मिलता है। वधू-वर पक्ष दिशाओं के, माता और मातुल पृथ्वी के, तथा वृद्ध, बालक, रोगी और दुर्बल व्यक्ति आकाश के अधिपति माने गए हैं; उनकी सेवा से इन-इन लोकों का आधिपत्य प्राप्त होता है।

पारिवारिक दृष्टि से बड़े भाई को पिता के समान, पत्नी और पुत्र को अपने ही शरीर का अंग, भृत्यवर्ग को अपनी छाया और पुत्री को करुणा की विशेष पात्र माना गया है। यदि ये कभी कोई अनुचित कार्य कर बैठें, तो गृहस्थ को क्षमा और सहनशीलता का भाव रखना चाहिए। गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करने वाला धार्मिक व्यक्ति अविराम परिश्रम करते हुए परिवार के हित की कामना करता है—यही उसकी वास्तविक तपस्या है। ऐसा साधु गृहस्थ सगे-सम्बन्धियों के भरण-पोषण से प्राप्त होने वाले आनन्द को स्वर्ग-सुख से भी श्रेष्ठ मानता है और इसी में जीवन की परम सार्थकता अनुभव करता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि महाभारतकालीन भारतीय ज्ञान-परम्परा में परिवार को धर्म, संस्कार और आत्मिक उन्नति की मूल आधारशिला माना गया है। माता-पिता, गुरुजन, ज्येष्ठ भ्राता, आचार्य और परिवार के अन्य वरिष्ठ सदस्यों की सेवा, श्रद्धा और आज्ञापालन को मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया गया है। इनके

प्रति प्रेम, सम्मान और सहनशीलता से ही इहलोक, परलोक और आध्यात्मिक कल्याण की सिद्धि संभव मानी गई है।

गृहस्थ जीवन को केवल भौतिक व्यवस्था नहीं, बल्कि एक सतत यज्ञ कहा गया है, जिसमें परिवार, अतिथि, आश्रित और भृत्य सभी की सेवा अनिवार्य है। जो व्यक्ति परिवार के प्रत्येक सदस्य के साथ सद्व्यवहार करता है, कठोरता और अहंकार का त्याग करता है तथा स्नेह, क्षमा और कर्तव्यबोध से जीवन यापन करता है, वही वास्तविक अर्थों में मुनि, महापुरुष और पुरुष-श्रेष्ठ कहलाता है। इस प्रकार महाभारतकालीन पारिवारिक आदर्श यह सिखाते हैं कि सेवा, त्याग, अनुशासन और सौहार्द के माध्यम से ही व्यक्ति व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।